

जनजातीय समाज में नारी : झारखण्ड के परिपेक्ष्य में



राजकुमार

सहायक प्राध्यापक,
इतिहास विभाग,
सूरज सिंह मेमोरियल कॉलेज,
राँची विश्वविद्यालय,
राँची

सारांश

भारतीय संविधान में जहाँ कानूनन स्त्री-पुरुष को बराबरी का हक दिया गया है, वहीं जनजातीय परम्परा में स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में आर्थिक अधिकारों से वंचित किया जाता है। झारखण्ड के जनजातीय समूहों की बात करें तो देश की कुल आबादी का आठ प्रतिशत जनजातीय आबादी झारखण्ड में रहता है। यहाँ आस्ट्रोलॉयड, प्रोटो आस्ट्रोलॉयड एवं द्रविड़ समुदाय के जनजातीय लोग निवास करते हैं। रहन-सहन, खान-पान, पूजा-पाठ, विवाह-मृत्यु संस्कार में परम्परागत दृष्टि से ये गैर जनजातीय समाज से पूरी तरह अलग हैं। महिला एवं पुरुषों में व्याप्त वर्गीकरण के कारण महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य कार्य करने पड़ते हैं। मेहनती स्वभाव का ताकाजा है कि इन जनजातीय महिलाओं को परिवार पालने से लेकर पशुपालन, खेती-बाड़ी, हाट-बाजार तक के कामों में लगना पड़ता है।

शायद झारखण्ड से जनजातीय पुरुषों की तुलना में महिलाओं का पलायन भी इसी कारण होता है कि महिलायें ईमानदार व श्रमसाध्य होती हैं। देश के बड़े शहरों से लेकर चाय बगानों एवं रेजा-मजदूरी के कामों में आज भी कठिन श्रम कार्य करती जनजातीय महिलायें बहुधा मिल जायेगी। परन्तु विडंबना है कि जनजातीय पुरुष प्रधान समाज इन्हें आर्थिक व बहुत हद तक धार्मिक अधिकारों से मरहूम रखे हुये हैं। जनजातीय महिलाओं को न तो अपने पिता-भाई की सम्पत्ति में कोई अधिकार होता है और न ही पति-बेटा के सम्पत्ति में इनका अधिकार होता है। एक ओर जहाँ ये अपनी मेहनत से सम्मान पाती हैं वहीं बदली परिस्थितियों में इनको अनेक सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक बदिशों से भी गुजरना पड़ता है।

मुख्य शब्द : दवना- फसल को मसल कर अन्न निकालना, रेजा-मजदूर- महिला श्रमिक, धांगरिन- धरेलू नौकरानी, छउंवा- छोटा बच्चा, हाट-बाजार- ग्रामीण ईलाकों का साप्ताहिक बाजार, जनी शिकार- जनजातीय महिलाओं द्वारा पुरुष वेश में आखेट।

प्रस्तावना

झारखण्ड प्रदेश देश एक 28वाँ राज्य है। यह प्रदेश जनजातीय बाहुल्य प्रदेश के रूप में ही जाना जाता है। यदि राष्ट्रीय आँकड़ों की बात करें तो झारखण्ड में देश के कुल आबादी का आठ प्रतिशत जनजातीय आबादी से संघनित है।

झारखण्ड जहाँ एक ओर प्राकृतिक सम्पदा से भरपूर है वहीं अपनी प्राचीन संस्कृति, परम्परा एवं अनूठे सामाजिक संरचना के लिये भी दुनिया में मशहूर है। जनजातीय महिला, पुरुष, युवा-युवती सभी के जीवन-यापन की अपनी मर्यादा है और एक स्थापित नियम के द्वारा ही ये अपनी दैनिक जीवन का निर्वहन करते हैं। इसी स्थापित नियम ने झारखण्ड में निवासित जनजातीय समूह की महिलाओं को जहाँ सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से सम्मानोय माना है वहीं आर्थिक व धार्मिक स्तर पर नैतिक अधिकारों से वंचित भी किया है।

वैसे तो झारखण्ड के जनजातीय समाज में स्त्रियों का स्तर सर्वत्र लगभग पुरुषों के बराबर है। महिलायें परिवार के केन्द्र में हैं। ये परिवार की आर्थिक गतिविधियों में पूरा सहयोग करती हैं। दिनानुदिन के काया में महिलायें घरों और खेत खलिहानों में समान रूप से काम करती हैं। कपड़े-बर्तन धोना, झरना-तालाब-कुँआ से जल लाना, मवेशियों को खिलाना-पिलाना, भोजन बनाना, कपड़ा बुनना तथा बच्चों की देखभाल करना, जलावन के लिये वनों से सुखी लकड़ी चुनकर लाना, उनके जिम्मे हैं। मौसम के अनुसार खेत तैयार करने, बोने, रोपने, काटने तथा दवने में वे पुरुषों की सहायता करती हैं। सब्जी उपजाना, उस बाजार तक पहुँचाना, पारिश्रमिक के एवज में अन्य लोगों के खेतों में काम तथा भवन-निर्माण स्थलों में रेजा-मजदूर का काम करना उनके लिये

आम बात है। कुछ विधवा एवं विवाहित कन्याएँ सम्पन्न लोगों के यहाँ धांगरिन का काम भी करती हैं। उन्हें वहाँ नगदी के अलावा भोजन-वस्त्रादि भी मिलता है।

उद्देश्य

आजादी के 68 वर्ष बीत जाने के बाद भी जनजातीय महिलाओं को रूढ़ीवादी व्यवस्था एवं पुरुष प्रधान समाज के बनाये नियमों के कारण आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक मामलों में बराबरी का हक प्राप्त नहीं हो पा रहा है। देश के जनजातीय समाज की पृष्ठभूमि पौराणिक व ऐतिहासिक दृष्टि से उर्वर है। प्राचीन काल से जनजातीय समाज को मातृ प्रधान समाज के रूप में जाना जाता है, परन्तु बीते कालखण्ड में नारी उपेक्षा की नीतियाँ कब तय हो गयी यह शोध का विषय बन गया है। जरूरत तो इस बात की है कि जनजातीय समाज में नारियों को पुरुषों के बराबर खड़ा होने की वकालत समाज के अंदर हो और उन्हें गैर जनजातीय समाज की महिलाओं की भाँति ही पिता व पति के चल-अचल सम्पत्ति में हिस्सेदारी तय किया जाय साथ ही सशक्त कानूनी संरक्षण दिलायी जाय।

वैसे तो जनजातीय पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच बहुत पार्थक्य नहीं था। पुरुष की तुलना में महिलाओं का पोषाक अवसर एवं उत्सव के अनुरूप बदलता है। युवा कन्याएँ उत्सवों तथा जतराओं के अवसर पर अखरा में लड़कों के साथ नाचती-गाती हैं। स्त्रियों की पोशाक उनके आर्थिक साधनों, उम्र और शिक्षा के अनुरूप होती है। वृद्धजन पारम्परिक वेश-भूषा से लिपटी रहती है। परन्तु शहरों एवं दुकानों में काम करने वाली जनजातीय महिलायें आधुनिक परिवेश में भी रहती हैं। विशेषकर अनुसूचित जनजाति के ईसाई धर्मावलम्बी महिलाओं में प्रायः यह देखा जाता है कि वे आधुनिक समाज के प्रचलन के अनुरूप ही वस्त्र धारण करती हैं। वर्तमान में हिन्दु महिलाओं की देखा-देखी अनुसूचित जनजाति की महिलायें भी सिन्दूर एवं टीका लगाती हैं। बाह्य तौर पर देखने में नहीं लगता कि जनजातीय समाज में महिला-पुरुष के अधिकारों में कोई अंतर होगा, किन्तु अंदरूनी सामाजिक एवं धार्मिक ढाँचों में यह अंतर स्पष्ट हो जाता है। जनजातीय धार्मिक पूजन में बलि-कर्म की प्रथा इनमें आदिकाल से चली आ रही है जिसमें स्त्रियों को भागीदार नहीं बनाया जाता। सरना में केवल पुरुष ही पूजा करते हैं। स्त्रियों घर के आदिंग (पवित्र पुरखा) में भी केवल सिन्दूर ही चढ़ाती हैं। पुरुषों की तरह बलि स्त्रियों नहीं कर सकती हैं। उनके नैतिक अधिकार सीमित हैं। उनका केवल अपने वस्त्रों, गहनों और दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं पर अधिकार है। परिस्थिति अनुसार जनजातीय महिलाएँ थोड़ा धान-चावल बेचकर थोड़ा-बहुत पसा अवश्य जोड़ सकती हैं। कटनी के बाद खेत से बालियाँ बटोर या चुनकर कन्याएँ भी कुछ पैसा कमा लेती हैं जिससे वे हाट-बाजार में अपने सौन्दर्य के सामान खरीदने में करती हैं। वास्तविक सम्पदा पर न उनका कोई अधिकार था और न है वे इसकी उत्तराधिकारिणी भी नहीं बन सकती हैं। उन्हें केवल भरण-पोषण तथा विवाह के खर्च का अधिकार है। विधवा अपने मृतक पति की भू-सम्पदा का जीवन पर्यन्त उपभोग अविवाहित रहकर तथा पितृ-गृह न लौटकर ही कर

सकती हैं। वधू मूल्य की प्रथा के कारण कन्याओं का विवाह संबंधी कठिनाइयाँ घटने के बजाय बढ़ती ही जा रही हैं। विवाह की प्रथा का अतिक्रमण भी प्रायः होता है। संतान-प्राप्ति की लालसा, प्रेम-संबंध तथा आर्थिक कारण उसके लिये जिम्मेवार होते हैं। साली-विवाह, देवर-विवाह तथा विधवा-विवाह भी स्त्रियों के सामाजिक स्तर को उन्नत बनाने के बजाय उसका हास ही करते हैं। दूसरी ओर वैवाहिक संबंध विच्छेदों की संख्या भी कम नहीं है। अनुचित यौन-संबंध, चोरी, गृहकार्य में लापरवाही, डाईनकुरी का बहाना बनाकर उनसे विवाह संबंध विच्छेद कर दिया जा रहा है।

आदिवासी समाज में औरत के लिये सबसे बड़ा खतरा है उसे डायन करार दिये जाने का। वृद्ध, विधवा तथा अत्यंत कुरूप स्त्रियाँ सहज ही डायन मान ली जाती हैं। साथ ही जिस औरत का बच्चा नहीं हुआ या पति मर चुका है या जो औरत कई बार असफल विवाह का शिकार हुई, उसे डायन करार दिया जाता है। बच्चों, मवेशियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों की अस्वस्थता तथा मृत्यु के लिये इन्हें उत्तरदायी समझ लिया जाता है। भगत द्वारा निशानदेही के आधार पर ऐसी महिलाओं की हत्या तक कर दी जाती है।

इस अंधविश्वास के कारण आदिवासी महिलाओं को जब तब सामाजिक कोप और क्रूरता का शिकार होना पड़ता है। गाँव में महामारी या अन्य किसी हादसे में किसी के पीड़ित होने पर उसका सारा दोष डायन करार दी गयी औरत पर मढ़ दिया जाता है। उसे आम जनता के सामने तरह तरह से अपमानित किया जाता है। उसे मारने पीटने और मैला घोलकर पिलाने से लेकर उसकी हत्या तक की सजा दी जाती है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार प्रत्येक वर्ष 50 से 60 महिलाओं की हत्या डायनकुरी या डायनबिसायन के कारण हो जाती है। समाज में व्याप्त इस क्रूर प्रथा के खिलाफ न जनजातीय समाजों की स्वशासी प्रणालियों के संचालक आवाज उठाते हैं और न पुलिस थानों में उनकी सुनवाई होती है। झारखण्ड के सभी 24 जिलों में डायन बताकर महिलाओं को मारने-पीटने या हत्या करने की घटनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। डायन प्रथा समानता और सामुदायिक की अवधारणा पर आधारित होने का दावा करनेवाली आदिवासी संस्कृति लिये कलंक है।

आधुनिक युग में यूँ तो गैर जनजातीय समाज की तुलना में जनजातीय समाज की औरत अधिक श्रमसाध्य होती है। **एक प्रचलित लोकोक्ति है— पीठ पर छउंवा, माथे पर खौंची, देखो हम पहुँच गये राँची।** ब्रिटिशकाल में भी पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का ही अधिक पलायन हुआ है। असम-दार्जिलिंग का चाय बगानों से लेकर कहीं भी जीवट श्रमसाध्य मजदूरों की आवश्यकता होती, वहाँ जनजातीय महिलाओं को लगाया जाता था। वैसे भी यहाँ महिलाएँ दोनों हाथों से झाडु देने का काम करती हैं। इसीलिये माना जाता है कि आदिवासी समाज की आर्थिक गतिविधियों में महिलाएँ पुरुषों की तरह ही निर्णायक होती हैं। वे आर्थिक क्रियाकलापों में पुरुषों के समकक्ष या उनकी ज्यादा भाग लेती हैं। वे पुरुषों से ज्यादा परिश्रमी होती हैं। फिर भी पितृसत्तात्मक पारिवारिक संरचना के कारण आदिवासी महिलाओं की

स्थिति पुरुषों से नीचे ही है। उन्हें पुरुषों के समान अधिकार नहीं प्राप्त है। वैसे आम तौर पर आदिवासी समाज में महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों को लेकर कोई सामाजिक निषेध या प्रतिबंध नहीं है, जैसाकि गैर आदिवासी समाज में आज भी मौजूद है। फिर भी यह आदिवासी समाज में भी देखा जा सकता है कि वहाँ भी महिला पुरुष के कुछ ऐसे आर्थिक-सामाजिक कार्य हैं जिनका वे अदल बदल नहीं सकते हैं।

झारखण्ड में कुल जनजातियों की संख्या 32 है, जिसमें 08 आदिम जनजातीय समुदाय है। संख्या की दृष्टि से संताल प्रथम, द्वितीय उरॉव तथा मुण्डा जनजाती तृतीय स्थान पर है।

जनजातीय समाज में संताल महिलाओं के लिये हल जोतना, बीज बोना और छप्पर छाना वर्जित है। वे हाट-बाजार में समान बेचती-खरीदती हैं, लेकिन वे शिकार, पूजा-अर्चना और पंचायत की बैठकों में हिस्सा नहीं ले सकती। मुण्डा स्त्रियों के लिये तो हल छूने तक की मनाही है। मुण्डाओं का परिवार पितृसत्तात्मक है और उनमें पिता का अधिकार सर्वोपरि है। मुण्डा स्त्रियों पारिवारिक अर्थव्यवस्था में हाथ बंटाती हैं लेकिन वे सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं होती। उरॉव जनजाति में लड़कियों को शादी के बाद पिता के पुरखों को श्रद्धांजलि देने से मुक्त किया जाता है। लड़की को पिता की सम्पत्ति से पूरी तरह से वंचित होना पड़ता है। उरॉव में परित्यक्ता को पुनर्विवाह की इजाजत है, वह पुनर्विवाह होने और न होने, दोनों स्थितियों में माँ पिता के घर आ सकती है लेकिन परिवार समाज में उसका कोई अधिकार नहीं होता। वह परिवार में किसी सवाल पर कोई राय नहीं दे सकती। खड़ियों जनजाति में पिता की चल-अचल सम्पत्ति पर बेटों का बराबर का अधिकार होता है लेकिन बेटियों का कोई अधिकार नहीं होता। विवाहित बेटियों को मां-बाप या भाई आजन्म पैसा-अनाज तो दे सकते हैं, लेकिन अचल सम्पत्ति का हस्तांतरण नहीं कर सकते। स्त्री ससुराल में पति के हिस्से की जमीन का जीवन भर उपयोग कर सकती है लेकिन उस जमीन को बेचने का अधिकार नहीं है। विधवा होने पर पति के अन्य भाई उसके अधिकार वाली जमीन को बेच कर उसे बेदखल कर सकते हैं। इस तरह के प्रतिबंध अन्य जनजातियों में भी हैं। हालांकि की जनजातीय महिलाएँ विशेषकर उरॉवों में जनी-शिकार की प्रथा है किन्तु पुरुष वेश में।

धार्मिक स्थलों और अनुष्ठानों में यह विभेद साफ तौर पर नजर आता है। पाहन के रूप में पुरुष ही धार्मिक कृत्यों का संपादन कर सकता है। सरना स्थल में भी महिलाओं के प्रवेश पर कई तरह के प्रतिबंधात्मक नियम चलते हैं। वैसे, धार्मिक मान्यताओं से जुड़े विभिन्न पर्व-त्योहारों में आदिवासी महिलाएँ पुरुषों के साथ हाथ में हाथ मिलाकर नृत्य-गीत-संगीत में भाग लेती हैं।

आंकड़ें गवाह हैं कि झारखण्ड के जनजातीय समाज में वर्ष 1971 महिलाओं का लिंगानुपात अधिक रहा है। लेकिन 1981 के बाद वह अनुपात घट रहा है। वर्ष 1951, 1961 और 1971 की जनगणना के अनुसार प्रति हजार आदिवासी पुरुषों में औरतों का अनुपात क्रमशः 1007, 1014 और 1003 रहा है। 1981 में वह अनुपातिक संख्या घट कर 993 हो गयी। वर्ष 1991 में वह अनुपात

और घट गया और 975 हो गया और 2011 तक यह अनुपात लगातार घटती ही जा रही है। आदिवासी समाज में प्रति हजार पुरुषों में औरतों की संख्या में तेजी से हो रही यह कमी झारखण्ड के विकास के नाम पर जारी उद्योग खनन और विस्थापन के साथ साथ बढ़ती बेरोजगारी का परिणाम है। यह आदिवासी समाज के परम्परागत मूल्यों पर पड़ने वाली आधुनिकता की उस मार का संकेत भी है जिसकी कीमत सबसे पहले और सबसे ज्यादा औरत को चुकानी पड़ती है।

हालांकि स्वशासन के जनजातीय प्रणालियों में औरतों की भागीदारी के इतिहास को लेकर कई मतभेद हैं। आमतौर पर इतिहासकार यह मानते हैं कि झारखण्ड में ब्रिटिश हुकूमत के दौरान ही जनजातीय स्वशासन की प्रणाली में औरतों के अधिकारों और भागीदारी पर प्रतिबंध लगा। इसके पूर्व आदिवासी औरतें भी **मानकी और मुण्डा** के पद पर चुनी जाती थी और पंचायत प्रणाली में उनकी भूमिका होती थी। इसके पीछे का तर्क यह है कि आदिवासी स्वशासन की परम्परागत प्रणाली में प्राथमिक सामाजिक ईकाई के रूप में गाँव को स्वीकार किया जाता रहा है। इसी अर्थ में आदिवासी की हर बसाहत (सेटलमेंट) स्वशासन की प्राथमिक ईकाई के रूप में स्वीकृत थी। साथ ही आदिवासी जनतंत्र में हर निर्णय सर्व सम्मति से होता था। हाल में कई इतिहासकार और समाजशास्त्री मानते हैं कि उक्त प्रणाली में सर्वानुमति की प्रक्रिया का तर्क आदिवासी समाज में महिलाओं की पूर्ण भागीदारी की पुष्टि नहीं करता क्योंकि आदिवासी परम्परा में स्वशासन का नेतृत्व वंशानुगत होता है। वंश परम्परा स्त्री से नहीं बल्कि पुरुष के नाम से चली है।

बढ़ते आधुनिकता, शिक्षा, गैर जनजातीय समुदायों से सीधा संपर्क तथा सरकार के महिलानुमुखी कल्याणी कार्यक्रमों एवं स्वयं सहायता समूहों के कारण अब जनजातीय महिलाएँ सबल हो रही हैं परन्तु आदिम परम्परा एवं संस्कृतियों से लड़ पाना उनके लिये आज भी सूर्य के सामने दीया के समान है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः हम पाते हैं कि अनुसूचित जनजाति में महिलाओं की स्थिति उनके कर्म के अनुरूप नहीं है और न ही जनजातीय पुरुष प्रधान समाज इस दिशा में कोई पहल ही करना चाहता है। परन्तु झारखण्ड राज्य में स्कूली व विश्वविद्यालय स्तर पर शैक्षणिक आँकड़ों की ओर ध्यान दृष्टि डाली जाय तो जिस रफ्तार से जनजातीय बालिकाओं में शिक्षा के प्रति रुझान बढ़ा है, वह संकेत करता है कि रूढ़ीवादी कानून का यह दीवार यथाशीघ्र ही ढहेगा। शिक्षा हो या खेल जनजातीय बालिका अब नहीं होगी फेल। इस नारे के साथ आज राज्य ही नहीं बल्कि देश के स्तर पर जनजातीय बालिकाएँ अपना परचम फहरा रही हैं। बदलाव के इस बयार को दर तक रोकना कठिन होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. थाती, डॉ० गिरिधारी राम गांझू, झारखण्ड के लोक नृत्य, पृ० 135, विपिन कुमार ठाकुर, झारखण्ड की जनजातियाँ, पृ० 77, प्रकाशक, कला, संस्कृति एवं युवा कार्य विभाग, झारखण्ड सरकार, राँची।

2. Land And People of Jharkhand, Dr. Prakash Oraon, p- 48-371, Tribal Research Institute, Ranchi, Jharkhand
3. आदिवासी महिला, झारखण्ड, हेमन्त, पृ० 199, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
4. झारखण्ड : इतिहास एवं संस्कृति, डॉ० बी० विरोत्तम, पृ० 541, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
5. उराँव-सरना धर्म और संस्कृति, भीखू तिरकी, पृ० 159, 162, प्रकाशक झारखण्ड झरोखा, राँची
6. भारतीय जनजनजातियाँ : संरचना एवं विकास, डॉ० हरिचन्द्र उत्प्रेती, पृ० 100, 111, 391, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
7. झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें, डॉ० विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृ० 133, नागपुरी संस्थान, राँची।